



Wisdom Vortex:

International Journal of Social Science and Humanities

Open-access, Peer Reviewed, Refereed, Quarterly Journal, Multiple Language (English & Hindi)

e-ISSN: 3107-3808

p-ISSN: Applied for

Wisdom Vortex: International Journal of Social Science and Humanities, Volume: 02, Issue: 03, Oct-Dec 2026

How to cite this paper:

Singh, R. & Sinha, D. (2026). Hindi Dalit ewam Adiwasi Atmakathaon me Pehchan ka Sangharsh aur Samajik Nyay ki Avadharna: Ek Tulnatmak Adhyayan. *Wisdom Vortex: International Journal of Social Science and Humanities*, 2(3), 71-74. <https://doi.org/10.64429/wvijsh.02.03.057>

Received: 26 Sep. 2026

Accepted: 02 Oct. 2026

Published: 10 Oct. 2026

Copyright © 2026 by author(s) and Wisdom Vortex: International Journal of Social Science and Humanities.

This work is licensed under the Creative Commons Attribution 4.0 International License (CC BY- 4.0).

<https://creativecommons.org/licenses/by/4.0/>



हिंदी दलित एवं आदिवासी आत्मकथाओं में पहचान का संघर्ष और सामाजिक न्याय की अवधारणा: एक तुलनात्मक अध्ययन

रचना सिंह¹

दीपशिखा सिन्हा²

सारांश

प्रस्तुत शोध-पत्र समकालीन हिंदी साहित्य में दलित एवं आदिवासी आत्मकथात्मक लेखन के माध्यम से पहचान (अस्मिता) के संकट और सामाजिक न्याय की बदलती अवधारणाओं का तुलनात्मक व पाठ-आधारित विश्लेषण प्रस्तुत करता है। भारतीय समाज के हाशिए पर स्थित इन दोनों समुदायों की ऐतिहासिक पीड़ा, वंचना और प्रतिरोध के स्वर आत्मकथात्मक विधा में दर्ज हुए हैं। जहाँ दलित आत्मकथाएँ मुख्य रूप से वर्ण-व्यवस्था, छुआछूत, संस्थागत बहिष्कार और डॉ. बी. आर. आंबेडकर के संवैधानिक दर्शन के इर्द-गिर्द सामाजिक समता की मांग करती हैं; वहीं आदिवासी आत्मकथात्मक आख्यान 'जल, जंगल, जमीन', विस्थापन और सांस्कृतिक स्वायत्तता के संकट को केंद्र में रखकर सामाजिक न्याय को परिभाषित करते हैं। प्रस्तुत अध्ययन गुणात्मक शोध प्रविधि, पाठ-विश्लेषण और सबाल्टर्न अध्ययन के सिद्धांतों का प्रयोग करते हुए यह स्थापित करता है कि दोनों विमर्शों को केवल 'वंचित विमर्श' की एक ही श्रेणी में समेटने के बजाय उनकी विशिष्ट ऐतिहासिकता, दार्शनिक भिन्नता और प्रतिरोध के सौंदर्यशास्त्र के आलोक में समझा जाना आवश्यक है।

विशिष्ट शब्द: दलित आत्मकथा, आदिवासी विमर्श, सामाजिक न्याय, अस्मिता का संघर्ष, विस्थापन, आंबेडकरवाद, प्रतिरोध का सौंदर्यशास्त्र

साहित्यिक विधा के रूप में आत्मकथा का इतिहास मूलतः प्रभुत्वशाली वर्गों के आत्म-प्रकटीकरण का इतिहास रहा है। पश्चिमी परंपरा में ऑगस्टीन और रूसो से लेकर हिंदी में बनारसीदास जैन के अर्धकथानक तक, आत्मकथा प्रायः उन व्यक्तियों द्वारा लिखी गई जिनके पास सामाजिक प्रतिष्ठा, राजनीतिक अधिकार और सांस्कृतिक पूँजी पहले से सुलभ थी। पारंपरिक हिंदी आलोचना में आत्मकथा को 'व्यक्तिगत जीवन-वृत्त' या 'व्यक्तित्व के उदात्त पक्षों के अंकन' तक सीमित माना जाता रहा। किंतु बीसवीं सदी के अंतिम दो दशकों में जब दलित

¹ शोधार्थी, हिंदी विभाग, संगम विश्वविद्यालय, भीलवाड़ा, राजस्थान

² शोधार्थी, हिंदी विभाग, सेज विश्वविद्यालय, मध्य प्रदेश

और आदिवासी आत्मकथ्यों ने हिंदी के साहित्यिक परिदृश्य में प्रवेश किया, तो इस स्थापित अभिजात्य सौंदर्यशास्त्र की जड़ें हिल गईं।

यह कोई सामान्य विधागत परिवर्तन नहीं था, बल्कि यह सबाल्टर्न (हाशिए के) वर्गों द्वारा अपनी आवाज़ को स्वयं दर्ज करने की एक क्रांतिकारी ज्ञानमीमांसीय घटना थी। दलित और आदिवासी आत्मकथाओं ने 'स्वानुभूति बनाम सहानुभूति' के प्रश्न को केवल एक साहित्यिक बहस नहीं रहने दिया, बल्कि उसे ऐतिहासिक न्याय की पूर्व-शर्त बना दिया। शरणकुमार लिंबाले (2004) ने स्थापित किया कि दलित साहित्य पारंपरिक रसवादी सौंदर्यशास्त्र, सत्यम, शिवम, सुंदरम, को अस्वीकार करता है, क्योंकि वह सौंदर्यबोध उस सामाजिक व्यवस्था की उपज था जो करोड़ों मनुष्यों को अस्पृश्य और अमानवीय मानती थी। दलित आत्मकथा में लिखा गया 'मैं' केवल किसी एक लेखक का एकांत 'मैं' नहीं है; वह सदियों से मूक बना दिए गए पूरे अछूत समुदाय का 'सामूहिक हम' है।

इसके समानांतर, इक्कीसवीं सदी के आरंभ में हिंदी में मुखर हुआ आदिवासी आत्मकथात्मक लेखन एक भिन्न धरातल पर खड़ा है। आदिवासी विमर्श किसी आंतरिक वर्णवादी या जातिवादी व्यवस्था से नहीं जूझ रहा था, बल्कि वह आधुनिक पूँजीवादी राष्ट्र-राज्य, कॉलोनियल वन-कानूनों और कॉर्पोरेट विकास के उस आक्रामक मॉडल से टकरा रहा था जिसने उसे उसकी ही पुरखा ज़मीन से बेदखल कर दिया। वंदना टेटे (2014) ने आदिवासी सौंदर्यशास्त्र को परिभाषित करते हुए यह आधारभूत बात कही कि आदिवासी साहित्य की आत्मा 'वाचिकता', 'पुरखा परंपरा' और 'प्रकृति-सहजीविता' में बसती है। यहाँ आत्मकथा का स्वरूप पश्चिमी या पारंपरिक हिंदी के आत्म-केंद्रित ढाँचे में नहीं समा सकता; क्योंकि आदिवासी चिंतन में व्यक्ति का अस्तित्व जल, जंगल, ज़मीन, पुरखा-गीतों और समूची जैव-विविधता से अलग संभव ही नहीं है।

अतः जहाँ दलित आत्मकथा वर्ण-व्यवस्था, छुआछूत और सामाजिक बहिष्कार के विरुद्ध 'नागरिक आत्मसम्मान और मानवीय गरिमा' की पुनर्स्थापना का दस्तावेज़ है; वहीं आदिवासी आत्मकथा विस्थापन, सांस्कृतिक विनाश और पारिस्थितिकीय दोहन के विरुद्ध 'अस्तित्व और स्वायत्तता' की पुकार है। प्रस्तुत शोध-पत्र इन दोनों धाराओं के आत्मकथ्यों का एक साथ पाठ-आधारित परीक्षण करते हुए यह रेखांकित करता है कि 'सामाजिक न्याय' की अवधारणा इन दोनों ऐतिहासिक संदर्भों में कैसे दो सर्वथा भिन्न, किंतु अनिवार्य अर्थ ग्रहण करती है।

शोध के उद्देश्य

1. दलित और आदिवासी आत्मकथाओं में व्यक्त 'पहचान के संघर्ष' के स्वरूप और अंतर्विरोधों का तुलनात्मक अध्ययन करना।
2. दोनों विमर्शों में 'सामाजिक न्याय' की अवधारणात्मक भिन्नता (संवैधानिक समता बनाम पारिस्थितिकीय/सांस्कृतिक स्वायत्तता) को रेखांकित करना।
3. आत्मकथात्मक आख्यानो में प्रयुक्त भाषा, स्थानीय शब्दावली और प्रतिरोध के नए सौंदर्यशास्त्र का विश्लेषण करना।
4. मुख्यधारा के हिंदी साहित्य और सबाल्टर्न आलोचना में इन दोनों धाराओं की स्थिति व योगदान का मूल्यांकन करना।

शोध-प्रविधि

प्रस्तुत शोध-पत्र गुणात्मक शोध प्रतिमान के अंतर्गत तुलनात्मक पाठ-विश्लेषण और सबाल्टर्न एवं उत्तर-औपनिवेशिक सैद्धांतिकी पर आधारित है:

प्राथमिक पाठ

- **दलित विमर्श:** ओमप्रकाश वाल्मीकि की जूठन (1997) तथा डॉ. तुलसीराम की मुर्दहिया (2010)।
- **आदिवासी विमर्श:** वंदना टेटे की आदिवासी साहित्य: परंपरा और प्रयोजन (2014), रोज केरकेट्टा के आत्मकथ्य निबंध (2010), तथा महुआ माजी का आख्यान मारंग गोड़ा नीलकंठ हुआ (2012)।

सैद्धांतिक ढाँचा

- दलित आख्यानों के विश्लेषण हेतु डॉ. बी. आर. आंबेडकर के सामाजिक लोकतंत्र और शरणकुमार लिंबाले के दलित सौंदर्यशास्त्र के प्रतिमान।
- आदिवासी आख्यानों के विश्लेषण हेतु पर्यावरण-मानविकी और 'पारिस्थितिकीय न्याय' के सिद्धांत।

तुलनात्मक चर

- (क) अस्मिता का संकट और आत्म-बोध
- (ख) संरचनात्मक हिंसा का स्वरूप (जाति व्यवस्था बनाम विस्थापन)
- (ग) प्रतिरोध की भाषा और अभिव्यक्ति का शिल्प

साहित्य समीक्षा एवं शोध-अंतराल

पूर्ववर्ती अध्ययन

शरणकुमार लिंबाले (2004) ने स्पष्ट किया कि दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र 'सत्यम, शिवम, सुंदरम' के पारंपरिक रस-सिद्धांतों से अलग मानवीय स्वतंत्रता और समानता के बुनियादी मूल्यों पर टिका है। कंवर (2008) ने रेखांकित किया कि दलित आत्मकथाएँ सामाजिक संरचना के उस नग्न यथार्थ का पर्दाफाश करती हैं जहाँ वर्ण और जाति के आधार पर मानवीय गरिमा का हनन किया जाता है। कँवल भारती (2012) अपने अध्ययन में यह स्थापित करते हैं कि दलित आत्मकथाओं में डॉ. आंबेडकर का दर्शन एक प्रकाशस्तंभ की भाँति कार्य करता है। वहीं दूसरी ओर, रमणिका गुप्ता (2008) ने दर्ज किया कि आदिवासी समाज का विमर्श गैर-बराबरी से अधिक 'अस्तित्व और अस्मिता' का विमर्श है, जहाँ जल, जंगल और ज़मीन से अलगाव सांस्कृतिक मृत्यु की ओर ले जाता है। वंदना टेटे (2014) ने स्पष्ट किया कि आदिवासी लेखन को केवल दलित साहित्य के सिद्धांतों के चश्मे से नहीं देखा जा सकता, क्योंकि आदिवासी समाज में आंतरिक वर्ण-व्यवस्था नहीं रही है, बल्कि उनका मुख्य संघर्ष बाह्य औपनिवेशिक शोषण, विस्थापन और अपनी विशिष्ट पुरखा परंपरा की रक्षा का है। अनुज लुगुन (2014) रेखांकित करते हैं कि आधुनिक विकास के मॉडल ने आदिवासियों को उनकी ही भूमि से बेदखल कर 'आंतरिक शरणार्थी' बना दिया है।

शोध-अंतराल

पूर्ववर्ती अध्ययनों की समीक्षा से यह स्पष्ट होता है कि अधिकांश आलोचकों ने दलित और आदिवासी साहित्य को 'हाशिए का विमर्श' या 'वंचित साहित्य' की एक ही सामान्यीकृत श्रेणी में समेटने का प्रयास किया है। इससे दोनों समुदायों की विशिष्ट ऐतिहासिक और संरचनात्मक भिन्नताएँ ओझल हो जाती हैं। प्रस्तुत शोध-पत्र दोनों धाराओं के मध्य सामाजिक न्याय की अवधारणात्मक भिन्नता (संवैधानिक समता बनाम पारिस्थितिकीय स्वायत्तता) का पाठ-आधारित तुलनात्मक विश्लेषण कर इस अंतराल को पाटता है।

तुलनात्मक पाठ-विश्लेषण एवं परिचर्चा

पहचान का संकट: 'जातिगत कलंक' बनाम 'भौतिक व सांस्कृतिक विस्थापन'

दलित आत्मकथाओं में अस्मिता का संकट सामाजिक संरचना द्वारा किए जाने वाले निरंतर अमानवीयकरण की देन है। जन्म आधारित जाति व्यवस्था व्यक्ति की व्यक्तिगत योग्यता को नकारकर उसे केवल एक अछूत देह के रूप में सीमित करती है। जूठन में ओमप्रकाश वाल्मीकि विद्यालयी जीवन में हेडमास्टर द्वारा झाड़ू लगवाए जाने की घटना का उल्लेख करते हुए लिखते हैं: "तीसरे दिन मैं कक्षा में चुपचाप जाकर बैठ गया... हेडमास्टर की चीख गूँजी, 'अबे चूहड़े के... जा, लगा पूरे मैदान में झाड़ू!' ...मैं यातना के उस दौर से गुजर रहा था जिसे शब्दों में बांधना मुमकिन नहीं।" (वाल्मीकि, 1997, पृ. 15-16) यहाँ पहचान को मिटाने और जातिगत पेशे में बाँधने की हिंसक चेष्टा के विरुद्ध शिक्षा को प्रतिरोध का माध्यम बनाया गया है। इसके विपरीत, आदिवासी समाज के सम्मुख पहचान का संकट जातिगत पदानुक्रम से भिन्न है; यह मुख्य रूप से औपनिवेशिक और नव-उदारवादी आर्थिक नीतियों के कारण अपनी ज़मीन, जंगल और संस्कृति से बेदखल होने का संकट है। आदिवासी जीवन में अस्मिता का प्राश्न 'पारिस्थितिकीय निरंतरता' से जुड़ा हुआ है। महुआ माजी (2012) मारंग गोड़ा नीलकंठ हुआ में रेखांकित करती हैं कि जादुगोड़ा के आदिवासियों के लिए विकास का अर्थ यूरेनियम विकिरण, शारीरिक विकृतियाँ और अपनी पवित्र भूमि का विनाश बन गया। आदिवासी अस्मिता किसी व्यक्तिगत अपमान का नहीं, बल्कि पूरे समुदाय के भौतिक और सांस्कृतिक अस्तित्व के अपहरण का प्रतिरोध करती है।

सामाजिक न्याय की दोहरी दृष्टि: 'संवैधानिक समता' बनाम 'पारिस्थितिकीय स्वायत्तता'

विश्लेषणात्मक आयाम	दलित आत्मकथाएँ (जूठन, मुर्दहिया)	आदिवासी आख्यान (वंदना टेटे, रोज केरेकेट्टा)
दमन का प्राथमिक स्रोत	आंतरिक सामाजिक संरचना (वर्ण-व्यवस्था, सामंतवाद)	बाह्य औपनिवेशिक तंत्र, कॉर्पोरेट विकास, राज्य-सत्ता

न्याय का साधन	भारतीय संविधान, आधुनिक शिक्षा, नागरिक अधिकार	जल-जंगल-जमीन पर परंपरागत अधिकार, पेसा (PESA), ग्राम-सभा
दार्शनिक आधार	डॉ. बी. आर. आंबेडकर, ज्योतिराव फुले	बिरसा मुंडा, सिंदो-कान्हू, प्रकृति-केंद्रित जीवन-दृष्टि
मुक्ति का मार्ग	सामंती गाँव से पलायन कर आधुनिकता में भागीदारी	प्राकृतिक संसाधनों और गाँव में पारंपरिक स्वायत्तता की रक्षा

डॉ. तुलसीराम मुर्दहिया (2010) में दिखाते हैं कि गाँव की सामंती और जातिवादी व्यवस्था इतनी दमघोंटू थी कि वहाँ से पलायन और आधुनिक शिक्षा (बीएचयू, जेएनयू) ही मुक्ति का एकमात्र रास्ता था। किंतु आदिवासी संदर्भ में गाँव और जंगल छोड़ना मुक्ति नहीं बल्कि उसकी पहचान का अंत है। रोज केरकेड़ा (2010) तर्क देती हैं कि सामाजिक न्याय तब तक अधूरा है जब तक आदिवासियों के प्राकृतिक संसाधनों पर उनके पारंपरिक अधिकारों को वैधानिक मान्यता नहीं मिलती।

भाषा-शिल्प और प्रतिरोध का प्रति-सौंदर्यशास्त्र

दोनों ही धाराओं ने हिंदी के स्थापित व्याकरण और अभिजात्य भाषा-बोध को तोड़ा है:

- **दलित आत्मकथाएँ:** यहाँ भाषा अलंकृत नहीं, बल्कि सीधी, तलख और आक्रोश से भरी है। वाल्मीकि और तुलसीराम उन गालियों और अपमानजनक शब्दों को यथावत दर्ज करते हैं जो उनके आत्मसम्मान को छलनी करते रहे। यह भाषा पाठक को अपराध-बोध से भर देती है और स्थापित 'रस-सिद्धांत' को खारिज करती है (लिंबाले, 2004)।
- **आदिवासी आत्मकथा:** यहाँ भाषा में प्रकृति का संगीत, लोक-गीत, मुहावरे और देशज बोलियों (जैसे मुंडारी, कुडुख, संथाली, नागपुरी) का सहज समावेश है। यह भाषा केवल आक्रोश की नहीं, बल्कि जीवन-राग, पुरखा-स्मृति और सह-अस्तित्व की भाषा है (टेटे, 2014; लुगुन, 2014)।

निष्कर्ष

हिंदी दलित एवं आदिवासी आत्मकथाओं का यह तुलनात्मक अध्ययन यह सिद्ध करता है कि दोनों विमर्श भारतीय समाज के हाशिए के वर्गों की आवाज़ होते हुए भी अपने ऐतिहासिक संदर्भों, दार्शनिक आधारों और सामाजिक न्याय की मांगों में स्पष्ट भिन्नता रखते हैं। दलित आत्मकथाएँ जातिगत पदानुक्रम को तोड़कर आधुनिक राष्ट्र-राज्य के भीतर नागरिक समानता, मानवाधिकार और संवैधानिक अधिकारों की पुनर्स्थापना का प्रयास करती हैं। वहीं दूसरी ओर, आदिवासी आत्मकथा आधुनिक विकास के संकीर्ण मॉडल को चुनौती देते हुए अपनी पारिस्थितिकीय स्वायत्तता, जल-जंगल-जमीन और सामुदायिक संस्कृति के संरक्षण को ही सच्चा सामाजिक न्याय मानते हैं। अतः अकादमिक विमर्श में इन दोनों धाराओं को केवल 'वंचित विमर्श' के एक ही साँचे में ढालने के बजाय उनकी विशिष्टताओं, अंतर्विरोधों और सौंदर्यशास्त्रीय योगदान को स्वतंत्र व समानांतर रूप से रेखांकित किया जाना चाहिए। यही बहुआयामी दृष्टि हिंदी आलोचना को अधिक लोकतांत्रिक और समावेशी बना सकती है।

संदर्भ सूची

- आंबेडकर, बी. आर. (2014). *जाति का विनाश* (एनाइलिलेशन ऑफ कास्ट, अनुवाद: राजकिशोर). फारवर्ड प्रेस. (मूल कृति 1936 में प्रकाशित).
- कंवर, सुशीला. (2008). *दलित आत्मकथाएँ: अनुभव से यथार्थ तक*. सामयिक प्रकाशन.
- कमल भारती, कैवल भारती. (2012). *दलित साहित्य की अवधारणा*. वाणी प्रकाशन.
- केरकेड़ा, रोज. (2010). *स्त्री महागाथा की तलाश में: प्यारा केरकेड़ा फाउंडेशन*.
- गुप्ता, रमणिका. (2008). *आदिवासी अस्मिता का संकट और साहित्य*. सामयिक प्रकाशन.
- टेटे, वंदना. (2014). *आदिवासी साहित्य: परंपरा और प्रयोजन*. प्यारा केरकेड़ा फाउंडेशन.
- तुलसीराम. (2010). *मुर्दहिया*. राजकमल प्रकाशन.
- माजी, महुआ. (2012). *मारंग गोड़ा नीलकंठ हुआ*. राजकमल प्रकाशन.
- लुगुन, अनुज. (2014). आदिवासी अस्मिता, संस्कृति और साहित्य के प्रश्न. *प्रतिमान: समय समाज संस्कृति*, 2(2), 245–258.
- वाल्मीकि, ओमप्रकाश. (1997). *जूठन*. राधाकृष्ण प्रकाशन.
- शर्मा, प्रदीप. (2016). समकालीन हिंदी दलित आत्मकथाओं में प्रतिरोध की चेतना. *शोध संचयन*, 7(1), 112–118.
- लिंबाले, शरणकुमार. (2004). *दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र* (अनुवाद: सूर्यप्रकाश दीक्षित). वाणी प्रकाशन.